औपनिषद आचार मीमांसा
एक समीक्षात्मक दार्शनिक अनुशीलन

दर्शन विभाग
पी-एच० डी० उपाधि हेतु

शोध प्रबन्ध-सार

वर्ष 2005

निर्देशक :-
डॉ० विजयपाल शास्त्री
प्रोफेसर दर्शन विभाग
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

अनुसंधित्सुका :-
शालिनी शर्मा

विभागाध्यक्ष
डॉ० त्रिलोकचन्द
प्रोफेसर दर्शन विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

औपनिषद आचार मीमांसा

एक समीक्षात्मक दार्शनिक अनुशीलन

दर्शन विभाग

पी–एच॰डी॰ उपाधि हेतु

शोध प्रबन्ध–सार

वर्ष 2005

निर्देशक :–

डॉ॰ विजयपाल शास्त्री

प्रोफेसर दर्शन विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

हरिद्वार।

अनुसंधित्सुका–

शालिनी शर्मा

विभागाध्यक्ष

डॉ॰ त्रिलोकचन्द

प्रोफेसर दर्शन विभाग

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार

शोध–सार

वैदिक–वाङ्मय में उपनिषदों की आध्यात्मिक उत्कर्षता अतुलनीय है। उपनिषदें मानवजाति के लिए गूढतम रहस्य का अनावरण करती हैं। उपनिषद् रचना का श्रेय उन ऋषि–मुनियों को जाता है जिन्होंने अपने अनुभवात्मक ज्ञान द्वारा सत्यविद्याओं को प्रकाशित किया। उनके आत्मज्ञान से निःसृत हुई आचार मीमांसा को उपनिषद्–साहित्य में खोजने का प्रयास अभीष्ट है। उपनिषदें मात्र दर्शन–ग्रन्थ ही नहीं है इनमें वैदिक आचारसंहिता भी पदे–पदे दृष्टिगोचर होती है। निःस्पृहता और अपरिग्रह के आदर्श को प्रस्तुत करते हुए कठोपनिषद् के ऋषि कहते हैं — *"न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः"* । धन आत्मा को कभी भी तुष्ट नहीं कर सकता है। हमें दूसरे के धन को लेने की भावना कदापि नहीं रखनी चाहिए — *"मा गृधः कस्यस्विद्धनम्"*। मनुष्य को अपनी आसुरी इच्छाओं का नाश ज्ञान द्वारा करना चाहिए।

उपनिषद् जन्मगत जाति व्यवस्था को अस्वीकार करती है। आश्रम–व्यवस्था को जीवन का आधार मानती है। उपनिषद् ज्ञान–कर्म–उपासना तीनों को यथासादृश्य महत्त्व प्रदान करती है। इसके अतिरिक्त उपनिषदें आत्मा, ईश्वर, मोक्ष, प्राणविद्या, श्रयेविद्या, ओङ्कारोपासना, सृष्टिविद्या, मधुविद्या, मन्थविद्या, योगविद्या आदि गूढतम विषयों को भी प्रकाशित करती हैं।

अतएव शोध में जहाँ आचार-मीमांसा की समीक्षा की गई है वहीं आत्मतत्त्व, ब्रह्मतत्त्व, जगत्विवेचन व कर्मसम्बन्धी विवेच्य विषयों पर भी प्रकाश डाला गया है।

उपनिषद् एक रहस्य तत्त्व की ओर संकेत करने वाला साहित्य है। वेद-व्याख्या का अन्तिम-भाग होने से उपनिषदों को वेदान्त भी कहा जाता है। उपनिषद् ऋषियों के आत्म-चिन्तन से प्रकाशित हुआ वह शुद्धतम ज्ञान है जिसको प्राप्त करके मनुष्य लौकिक-बन्धनों का त्याग कर मुक्त अवस्था प्राप्त करता है। दुःखों से विमुक्ति के लिए जीवात्मा को विद्या प्राप्त करके अविद्या-अन्धकार से पृथक् होना होता है। इसलिए उपनिषद् की यह प्रार्थना — *"असतो मा सद् गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मा अमृतं गमय"* वर्त्तमान में प्रासंगिक है। उपनिषदें हमें यह सन्देश देती हैं कि कर्म मात्र जीवन निर्वाह या सुख-साधनों की प्राप्ति के लिए ही नहीं करने चाहिए अपितु कर्म का प्रमुख उद्देश्य ब्रह्म की प्राप्ति होना चाहिए। इसके लिए ज्ञान का होना आवश्यक है। ज्ञान-विज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति ही कर्म के यथार्थ-स्वरूप को समझ सकता है। ज्ञान को प्राप्त करने के लिए विद्या को प्राप्त करना आवश्यक है। उपनिषदों में यह विद्या परा व अपरा के भेद से दो प्रकार की बताई गई है। पराविद्या से ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है व अपराविद्या से लौकिक-ज्ञान की प्राप्ति होती है।

सभी उपनिषदें आत्मा, ब्रह्म व जगत् के स्वरूप का प्रकाशन करती हैं तथा आत्मोक की प्राप्ति के उपाय भी बतलाती हैं। उपनिषदों का महत्त्व इसलिए भी बढ़ जाता है कि न केवल आर्यावर्त्तदेशीय विद्वानों ने उपनिषद् भाष्य किये हैं अपितु पाश्चात्य-जगत् के मनीषियों ने भी इस पर भाष्य रचना की है तथा वे भी जीवन की सुख-शान्ति का आधार उपनिषदों को मानते हैं।

उपनिषदों में जीव-ब्रह्म की अद्वैत-भावना के संकेत अनेकत्र मिलते हैं परन्तु वे जीवात्मा की ब्रह्म के प्रति अतिशय निकटता को प्रकट करते हैं। ब्रह्म के आनन्द में लीन जीवात्मा की वह काव्यात्मकता अभिव्यक्ति है। मध्यकालीन आचार्यों ने इसी आधार पर अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, शुद्धद्वैत आदि की स्थापना की। श्री शंकराचार्य ने उपनिषदों के अद्वैत-परक अर्थ किये। रामानुज आचार्य ने विशिष्टाद्वैतपरक तथा मध्वाचार्य ने द्वैतपरक अर्थ किये हैं किन्तु उपनिषदों का वास्तविक अर्थ तो उसमें प्रयुक्त शब्दों के यथायथ अर्थग्रहण से ही किया जा सकता है। उन पर पृथक् से अपनी मान्यताओं को आरोपित करके नहीं। उपनिषदों में आये ऐसे कतिपय प्रसंगों को शोध में प्रस्तुत कर उन पर समीक्षात्मक दृष्टि से लेखन कार्य किया गया है।

उपनिषदों के आचार-क्षेत्र में कर्म भी एक विवेचनीय विषय रहा है। कर्म का अधिकार-क्षेत्र जीवात्मा का है। जीवात्मा शरीर, वाणी, इन्द्रिय, मन, बुद्धि से जो क्रियाएं करता है वे कर्म के अन्तर्गत आती हैं, कर्म के विभिन्न भेद हैं। शुभ-अशुभ कर्म, सकाम-निष्काम कर्म, शुक्ल-कृष्ण और अशुक्ल-अकृष्ण कर्म तथा कर्म, अकर्म, विकर्म। लौकिक फल की इच्छा से किये जाने वाले कर्म सकाम होते हैं तथा फलाशा रहित होकर ईश्वर की आज्ञा के अनुकूल रहकर किये जाने वाले कर्म निष्काम होते हैं व ब्रह्म को प्राप्त कराने का साधन बनते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है — *"पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन वै।"*

उपनिषदों में देवयान और पितृयान दो मार्गों का वर्णन किया गया है। ब्रह्मचर्य से सीधे परिव्राजक हो जाना देवयान मार्ग का अवलम्बन करना है तथा गृहस्थाश्रम में सन्तानोत्पत्ति करके पितृपक्ष का निर्वाह करना पितृयान-मार्ग है।. इसी को प्रजापतिव्रत भी कहते हैं। इस प्रकार हम देखते

हैं कि उपनिषदें जहाँ आध्यात्मिकता का सन्देश देती हैं वहीं सामाजिकता को भी बढ़ावा देती हैं। प्रजापतिव्रत का पालन करने से जीवात्मा, परमात्मा की व्यवस्थाओं से उज्ज्वल जीवन प्राप्त करता है।

जब जीवात्मा शुद्ध, पवित्र, अन्तःकरण वाला हो जाता है तब वह ईश्वर की अनुभूति करने में समर्थ हो जाता है। शुद्धान्तःकरण के लिए शुद्ध कर्मों का होना आवश्यक है क्योंकि जीवात्मा को उसके कर्मों के अनुसार ही गति प्राप्त होती है। जब मनुष्य लोकोपकार की भावना से तालाब, कुएँ, धर्मशाला, उद्यान आदि बनवाता है तब वह धूममार्ग की गति प्राप्त करता है तथा ब्रह्म-उपासना, निष्काम-यज्ञ द्वारा अर्चिमार्ग अर्थात् मोक्ष-मार्ग का अवलम्बन करता हे।

व्याधि को प्रसन्नता-पूर्वक सहन करना उपनिषदों में तप कहा गया है तथा श्मशान-गमन और अग्नि-दहन की क्रिया को परमतप की श्रेणी में रखा गया है। इसका फल श्रेष्ठ लोकों की प्राप्ति कहा है। उपनिषद् व्यक्तिगत तप को भी महत्त्व प्रदान करती है।

मुख्य-रूप से उपनिषदों का प्रतिपाद्य-विषय ब्रह्म-विद्या है। जीवात्माा को ब्रह्म का अनुभवात्मक ज्ञान कराने वाली विधि ब्रह्म-विद्या है। सब पदार्थों, मनुष्यों, गुण-कर्म-स्वभावों में बृहद्-रूप से श्रेष्ठ होने के कारण ईश्वर को ब्रह्म कहा गया है। जगत् की सम्पूर्ण-विद्याओं में ब्रह्मविद्या सर्वश्रेष्ठ है। ब्रह्मविद्या का अधिकारी बनने के लिये जिज्ञासु में सत्य, अहिंसा, संयम, शुद्ध-आचरण का होना अनिवार्य है। ब्रह्म के समान शुद्ध-गुण-कर्म-स्वभाव युक्त हो जाना ब्रह्मज्ञानी की पहचान है। कठोपनिषद् में नाचिकेतोपाख्यान से ब्रह्मविद्या को प्राप्त करने की शिक्षा मिलती है। यथा—

"अथ धीरा अमृतत्त्वं विदित्वा ध्रुवध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते।"

स्थूल व सूक्ष्म शरीर से रहित सम्पूर्ण-जगत् का उत्पादन-पालन-विनाश करने वाला आत्मतत्त्व परमात्मा है। तथा देहयुक्त सांसारिक सुख-दुःख का भोक्ता जीवात्मा है। इन्हीं परब्रह्म को प्राप्त कराने वाली विद्या पराविद्या है। पराविद्या में प्रवेश के लिए अपराविद्या की अवहेलना नहीं की जा सकती।

ब्रह्म ही इस जगत् का निमित्त-कारण है जो प्रकृति-रूपी उपादान कारण से जीवात्मा के लिए कर्म-लोक की व्यवस्थाा करता है। क्षर प्रकृति का तथा अक्षर-ब्रह्म का प्रतिपादक है। जीवात्मा क्षर का त्याग करता हुआ अक्षर-रूपी ब्रह्म को प्राप्त करता है। ब्रह्म में सगुण व निर्गुण दोनों रूप पाये जाते हैं — सर्वव्यापकता, सर्वशक्तिमन्ता ब्रह्म के सगुण रूप हैं तथा जन्म-मृत्यु, सांसारिक सुख-दुःख, वृद्धि-ह्रास-क्षय से रहित होना ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप का बोध कराते हैं। मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्म की शक्ति को त्रिविध रूप दिया गया है। भोक्ता, भोग्य व प्रेरिता के रूप में वह शक्तियाँ दिखायी देती हैं। ब्रह्म की सहायता के बिना प्रकृति एवं जीवात्मा, क्रिया-प्रक्रिया को धारण करने में असक्षम है।

आचारमीमांसा के क्रम में शोधग्रन्थ में संन्यास-सम्बन्धी आचार की मीमांसा की गई है।

आश्रम-व्यवस्था में संन्यास का चतुर्थ क्रम है। संन्यास का उद्देश्य लोकैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणा से पृथक् होकर प्राणि-मात्र का हित करते हुए ईश्वरोपासना में मुख्य-रूप से प्रवृत्ति रखना है। गीता के अनुसार संन्यास और योग का गहरा सम्बन्ध है। यदि योग को संन्यास-भावना से पृथक् कर दिया जावे तो संन्यास का वास्तविक स्वरूप प्रकट नहीं हो पायेगा अतः संन्यासी के लिए यह आवश्यक है कि वह बाह्य-चिह्नों को धारण करने में

अथवा छोड़ने में ही कृतार्थता न माने अपितु आन्तरिक-रूप से सब पदार्थों से ममत्व हटाकर निष्काम-भाव से योग्य कर्म करते हुए सदा-सर्वदा ईश्वरार्पण रहे। संन्यास साधना का मार्ग है जिसमें साध्य ब्रह्म होता है और साधना ब्रह्मविद्या की प्राप्ति होती है। ब्रह्मविद्या से जीवात्मा के आन्तरिक-क्लेश मनोमालिन्य आदि कल्मष हट जाते हैं जिससे शुद्ध-बुद्धियुक्त होकर संन्यासी सब प्रकार के दुःखों से छूटकर अपवर्ग को उपलब्ध हो जाता है। अतएव ब्रह्मविद्या और मोक्ष के लिए संन्यास ग्रहण करना उपादेय है। पुरुषार्थ-चतुष्ट्य में धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष ग्राह्य हैं। मोक्ष का अर्थ है आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक दुःखों से छूटकर, नित्य-आनन्दयुक्त ब्रह्म में ज्ञान-पूर्वक विचरण करना। मुक्ति के दो भेद हैं जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति। सभी प्रकार के दुर्गुणों, दुर्व्यसनों व दुर्व्यवहारों को छोड़कर, प्रसन्न-चित्त से धर्माचरण करना जीवन्मुक्ति है तथा देह-त्यागकर ब्रह्म-लोक को प्राप्त करना विदेहमुक्ति है। यम-नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि का नित्यप्रति अभ्यास करना मुक्ति के प्रमुख उपाय हैं। संन्यास का अधिकारी बनने के लिए शुभ-कर्मों का अभ्यास और वैराग्य की दृढ़-भावना का होना अनिवार्य है। इस शोध में संन्यासियों के विविध भेदों का वर्णन करते हुए गीता के मतानुसार संन्यास और त्याग में अन्तर, संन्यासयोग एवं संन्यासाश्रम में अन्तर आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है। जिससे कि वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में सम्पूर्ण-मानवजाति के लिए संन्यास का यथार्थ-स्वरूप प्रकट हो।

शोध-ग्रन्थ में योग की मीमांसा भी गई है। युज् समाधौ धातु से बने योग शब्द का अर्थ जहाँ एक ओर समाधि है वहीं समाधि की अवस्था प्राप्त करने के लिए साधक द्वारा चित्त की वृत्तियों को सब ओर से हटाकर ईश्वर के शुभ-गुणों को ग्रहण करने में लगाना भी है। भगवद्गीता में योग को

अन्य अर्थों में भी प्रकाशित किया है। योग केवल समाधि लगाकर बैठने का ही नाम नहीं है अपितु लौकिक जीवन में भी समग्र कर्मों को कुशलता पूर्वक करना योग है। यह योग किसी व्यक्ति-विशेष के लिए नहीं अपितु सभी के लिए उपयोगी है। वर्त्तमान परिप्रेक्ष्य में सम्पूर्ण मानव जाति हिंसा, द्वेष, भ्रष्टाचार, कुटिलता आदि दोषों से पीड़ित हो रही है। इन दोषों का निराकरण योगाचरण से ही सम्भव है। इसलिए योग-शास्त्र के अनुसार योगाभ्यास सर्वजनग्राह्य है। वेद, दर्शन, ब्राह्मण-ग्रन्थ, पुराण, गीता आदि सभी शास्त्रों में योग की महत्ता प्रतिपादित की गई है। यद्यपि योग का स्वरूप एक है तथापि योग के साधन-भेद विविध हैं। ये साधन ही योग के भेद कहे जाते हैं। यथा राजयोग, क्रियायोग, भक्तियोग एवं मन्त्रयोग। योग-सिद्धि के लिए चित्तवृत्ति निरोध करना होता है। इसके विभिन्न उपायों में समाधि का अभ्यास, वैराग्य, ईश्वरप्रणिधान, चित्त की प्रसन्नता, अष्टाङ्ग योग का विधिवत् पालन आदि समाविष्ट होते हैं। योग-साधना में उन्नति के लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह तथा शौच-सन्तोष-तप-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधान आदि का पालन करते हुए शुद्ध, पवित्र, एकान्तदेश में आसन लगाकर प्राणायाम का अभ्यास करना योगी को अभिष्ट होता है। इसी विषय में योग-सिद्धियों का विवेचन तथा भक्तियोग व ईश्वरप्रणिधान का स्वरूप बताया गया है। उपनिषदों में, भागवत में, आचार्य शंकर के मत में तथा रामानुज के मत में भक्तियोग के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। योग-साधना से साधक को लौकिक-जीवन में उत्तम-स्वास्थ्य, दीर्घायु, सदाचार आदि सद्गुणों की प्राप्ति तो होती ही है साथ ही ब्रह्मज्ञान से पारलौकिक आनन्द की उपलब्धि भी सरलता से हो जाती है।

आध्यात्मिकता को जीवन में अपनाने से सामाजिक व्यवहार में भी निपुणता आती है.। इससे व्यवहार-दर्शन का स्वरूप प्रकट होता है।

मनुष्य का अन्य प्राणियों के प्रति जो क्रिया-कलाप, विचारपूर्वक किया जाता है उसे व्यवहार कहते हैं। व्यवहार-दर्शन का उद्देश्य मानव-समाज के उत्थान के साथ-साथ आध्यात्मिक सुधार करना भी है। शरीर निर्वाह के लिये भक्ष्य-अभक्ष्य का विचार करते हुए सात्त्विक भोज्य पदार्थों को ग्रहण करना आहार कहलाता है। प्रातः जागरण से लेकर शयन पर्यन्त समयानुसार व्यवस्थित-रूप से अपने व्यक्तिगत क्रिया-कलाप को चलाना विहार कहलाता है। आहर, विहार और व्यवहार के सम्यग् प्रयोग करने से वैयक्तिक, पारिवारिक एवं सामाजिक उन्नति होती है।

उपनिषदों में वर्णित आख्यायिकाओं के माध्यम से भी व्यवहार-पक्ष को उजागर किया गया है। उपनिषदों का व्यावहारिक-पक्ष अतिश्रेष्ठ इसलिए है कि दम, दया और दान का महत्त्व आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना की पूर्वकाल में था। उपनिषदों में मानव-धर्म के तीन स्कन्ध यज्ञ, दान और तप व्यावहारिक उत्थान के पर्याय हैं। आध्यात्मिक उन्नति के सोपान हैं - तपस्या, दान, आर्जव, अहिंसा, सत्यवचन। तैत्तिरीयोपनिषद् में स्नातक को माता-पिता तथा गुरु के प्रति सेवा-सुश्रूषा करने की शिक्षा तथा सत्यतापूर्वक धर्माचरण करने का उपदेश व्यवहार के अन्तर्गत दिया गया है। सत्यकाम-जाबाल के कथानक से सत्य-प्रकाशित करने की शिक्षा मिलती है। उपनिषदों में सुनृता-वाणी के प्रयोग तथा अनृतभाषण का निषेध किया गया है। विवेक, वैराग्य, षट्क सम्पत्ति और मुमुक्षत्व के पालन करने से मनुष्य को ईश्वर-सिद्धि प्राप्त होती है इसलिए साधन-चतुष्टय का योगसाधना में विशेष महत्त्व है। विवेक और वैराग्य के अभाव में शोक, मोह आदि दोषों से छूट पाना सम्भव नहीं है। अतः विवेक-वैराग्य की आध्यात्मिक जीवन में महती उपयोगिता है।

श्वेतकेतु और उद्दालक संवाद तथा याज्ञवल्क्य व मैत्रेयी संवाद को भी इसी परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया है।

अन्त में उपनिषदों के सारतत्त्व उपासना का विवेचन किया है। उपासना ईश्वर की भक्ति का महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। ब्रह्मोपासक उपासना से ब्रह्म के विशेष ज्ञान-बल व आनन्द का अधिकारी बनता है। ब्रह्म साध्य है, उपासना क्रियात्मक साधना है। उपनिषदों में उपासना का ध्येय बताते हुए कहा है — उपासना-रूपी कर्म से ब्रह्मरूपी लक्ष्य की प्राप्ति होती है। यथा —

'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत्।।'

मुण्डको.

उपनिषदों में प्राणायाम आदि विधियों द्वारा भी ब्रह्मोपासना करने का उपदेश दिया गया है। बृहदारण्यक व छान्दोग्य उपनिषदों में उपासना का व्यापक-स्वरूप प्रकट हुआ है। प्राणोपासना, अश्वमेधोपासना, सामोपासना का विशद विवेचन शोध में किया गयाहै। सामान्यतः सभी उपनिषदें ओंकार-रूपी ब्रह्म की उपासना करने का प्रतिपादन करती हैं। ओंकारोपासना से सभी दुर्गुण, दुर्व्यसन नष्ट हो जाते हैं व क्लेश से मुक्ति मिलती है। सत्य, आनन्द व ज्ञानमय स्वरूप ब्रह्म का बोध होता है।

□□□